वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल १०, सोमवार, दिनाङ्क २७-०६-१९६६
गाथा ५३ से ५६ प्रवचन नं. १९

सत्थ पढंतहँ ते वि जड, अप्पा जे ण मुणंति।
तहिँ कारणि ए जीव फुडु, ण हु णिव्वाणु लहंति॥५३॥

शास्त्र पढ़ने पर भी, उस शास्त्र का सार आत्मा अनन्त शुद्ध आनन्दकन्द है, उसका सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए और उसका अनुभव करना चाहिए – वह करता नहीं और अकेला शास्त्र का व्याकरण, वैद्यक, काव्य, न्याय और ज्योतिष, धर्म शास्त्र पढ़े परन्तु अन्तर स्वरूप शुद्ध अभेद है, उस पर लक्ष्य, दृष्टि अभेद पर न करे तो इसके शास्त्र मन्थन में कोई सार नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें?

अध्यात्म से बाहर रहता है। अन्तर स्वरूप.... वीतराग के शास्त्र का कहने का आशय तो (यह है कि) भगवान आत्मा एक समय में अभेद पूर्ण वस्तु है – उसका अनुभव करना, उसका ज्ञान करके उसके अन्दर में एकाग्र होना, यह शास्त्र का सार है। शास्त्र पढ़कर भी यह न करे तो उन शास्त्र पढ़नेवालों को जड़ कहा है। जड़ कहा है न? पढ़-पढ़कर करने का था, वह तो किया नहीं; शास्त्र के पठन में रुक गया। देखो! अन्दर है, इस तरफ.....

जड़ जैसे ही आत्मज्ञान रहित हैं। जिनवाणी जानने का फल निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का प्रयास है। जिनवाणी सुनकर, पढ़कर, धारण कर फल तो यह है कि अन्दर स्वरूप का निश्चयसम्यक् निर्विकल्प आत्मा की प्रतीति करना और अनुभव करना, यह उसका सार है। यह नहीं किया, इसके बिना क्रियाकाण्ड और शास्त्र-पठन किया करे, उसमें कहीं आत्मा का झुकाव नहीं होता, (उसे) जड़ कहा है, जड़। **चार**

अनुयोगों के ग्रन्थ पढ़कर.... चारों अनुयोग पढ़कर, छह द्रव्य जानकर, नव तत्त्व जानकर, पंचास्तिकाय को जानकर.... जानकर अन्दर निकालना तो आत्मा है; उस आत्मसन्मुख का अनुभव और दृष्टि नहीं है तो उस चारों अनुयोग के पठन को-सबको यहाँ जड़ कहा है। जिसका चार गति का फल है, उसे जड़ कहा है। समझ में आया?

भेदज्ञान की कला प्राप्त करके निश्चयसम्यग्दर्शन के लाभ के लिये नित्य भेदविज्ञान का मनन करना। शास्त्र कहकर तो यह कहना है न कि राग और कर्म से तेरी चीज भिन्न है और यह आत्मा अपने अनन्त स्वभाव-गुण से अभिन्न है। समझ में आया? आत्मा अनन्त गुण शुद्ध चैतन्य, अतीन्द्रिय आनन्द आदि गुण आत्मा के हैं – ऐसे गुण से आत्मा अभिन्न एक है और राग, विकार, शरीर से आत्मा भिन्न है। यदि ऐसे आत्मा का अन्तर ज्ञान, निर्विकल्प वेदन और दृष्टि नहीं की तो इस शास्त्र पठन का उसे कोई फल नहीं। आहा...हा...! कहो, समझ में आया इसमें कुछ? कपूरचन्दजी! क्या करना? चक्की लाकर गेहूँ दलना.... उसे पता लगता है। आहा...हा...!

कहते हैं, भाई! यह तो बाहर की वस्तु है। वस्तुस्वरूप एक समय में सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। आत्मा शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार है। उस आत्मा का अन्तर अनुभव करना और दृष्टि करके लीन होना, यही सम्पूर्ण (जिनागम का सार है)। शास्त्र भले ही कम पढ़ा हो, विशेष आता न हो परन्तु करने योग्य यह है। यह न किया होवे तो उसने पढ़कर क्या किया? समझ में आया?

यहाँ नीचे इन्होंने थोड़ा लिखा है। समझ में आया? **अन्दर आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है।** यदि अन्तर में प्रयत्न करे तो **आत्मानन्द का अनुभव होता है, तभी मोक्षमार्ग का पता मिलता है।** अन्तर का आत्मा ज्ञायक निर्विकल्प है – ऐसा प्रतीति में आने पर, मोक्ष का मार्ग यह है – ऐसा उसे पता लग जाएगा। इसके बिना शास्त्र पढ़ने में कुछ पता नहीं लगेगा। **समस्त शास्त्रों के पठन का हेतु सम्यग्दर्शन का लाभ है।** देखो! पहले यह लिया। अन्य कहें, क्रिया करना, व्रत पालना – यह शास्त्र का फल है। यहाँ तो कहते हैं कि पहले सम्यग्दर्शन करना, यह पहला फल है। सम्यग्दर्शन के बाद स्वरूप में स्थिरता-चारित्र करे, वह तो उत्कृष्ट वैराग्य है, उत्कृष्ट पुरुषार्थ है, परन्तु पहले

यह सब पढ़कर सम्यग्दर्शन का लाभ चाहिए। उसे नहीं पाया तो शास्त्र पढ़ना कार्यकारी नहीं है। शास्त्र पढ़कर क्या (किया) ? वाद-विवाद किया, दूसरे को समझाया और दूसरों से बहुत बातें धारण की, परन्तु जो करने का था, वह तो किया नहीं।

अनेक जीव, व्यवहार शास्त्र में कुशल होकर विद्या का मद करके उन्मत्त हो जाते हैं.... व्यवहार शास्त्र में बाह्य में कुशल (होवे, वह) मद करता है, मद। हम पढ़े हैं, हमें आता है। समझ में आया ? उसे कुछ नहीं आता; उसे समझाना नहीं आता, बोलते नहीं आता और (कहता है कि) हमें तो सब आता है। कहो, निहालभाई ! आहा...हा... !

मुमुक्षु – आता होवे तो....

उत्तर – क्या आता होवे तो ? धूल कहलाये ? इसे आना कहते हैं ? यह आना है ही नहीं। आत्मा का अन्तर निर्विकल्प श्रद्धा और वेदन करना, वह 'आना' है। समझ में आया ? हजारों लोगों को समझाना या लोगों से बातें धारण करना, यह कहीं तात्विक बात नहीं है। भगवान आत्मा अन्तर आनन्दकन्द सच्चिदानन्दमूर्ति है, उसका अन्तर में वेदन करके, निर्विकल्प आत्मा का स्वाद लेना, अनुभव करना – यह पूरा फल है। यह किया, उसने सब किया। समझ में आया ? यह किया नहीं, उसने कुछ किया नहीं।

उन्मत्त हो जाता है, कषाय की मलिनता बढ़ा देता है। देखो, बढ़ा देता है। कषाय अभिमान बढ़े, मुझे आता है, देखो, इसे नहीं आता। देखो ! इसे आया, इतना बोल हमको आये, हमको जवाब देना आता है, हम बड़े पंडित चतुर हैं (ऐसा) मिथ्या अभिमान बढ़ता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसके अन्तरभान बिना ऐसे बाह्य पठन, कषाय वृद्धि करता है। **ख्याति पूजा लाभ का प्रेमी होकर....** बाहर में प्रेमी है, दुनिया में बड़ा कहे। **सांसारिक विषय-कषाय की पुष्टि के लिए ही ज्ञान का उपयोग करता है। उसमें कभी अध्यात्मिक ग्रन्थ नहीं पढ़ता, कभी आत्मा के शुद्धस्वरूप का मनन नहीं करता।** कदाचित् पढ़े तो भी अन्दर मनन (नहीं करता) अन्तर में आनन्दस्वरूप में झुकाव करके निर्विकल्प दशा प्रगट करना (चाहिए), वह नहीं करता। **उसके अन्दर संसार का मोह घटने के बदले बढ़ता जाता है।** ठीक लिखा है। किस ओर है ? यहाँ (है) ? है या नहीं अन्दर ? है।

वे आत्मज्ञान का प्रकाश पाये बिना अज्ञान के अन्धकार में ही जीवन गँवाकर मनुष्य जन्म का फल प्राप्त नहीं करते। अज्ञान में.... शास्त्र पढ़े, बड़प्पन लेकर वाद-विवाद (किया) परन्तु भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप है, उसे अन्तर सम्यग्दर्शन द्वारा, निश्चय द्वारा अनुभव न करे तो उसकी सम्पूर्ण जिन्दगी अफल जाती है। धूल भी नहीं... दुनिया लाखों माने या न माने, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु – बहुत लोग माने तो अधिक अच्छा।

उत्तर – उसके साथ क्या काम है? माने या न माने, उसके घर रहा। समझ में आया?

शास्त्रों का ज्ञान उनके लिए संसार बढ़ानेवाला बन जाता है। भाषा देखो! आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द की दृष्टि के अनुभव बिना उसे शास्त्र का ज्ञान संसार वृद्धि का कारण होता है। जहाँ-तहाँ हमें आता है, उसे नहीं आता, हम ऐसा सीखे... समझ में आया? इसे अपनी बढ़ाई के आगे दूसरे की महत्ता नहीं सूझती। समझ में आया? **निर्वाणमार्ग से उन्हें दूर ले जाता है।** लो! समझ में आया? यह ५३ (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

इन्द्रिय व मन के निरोध से सहज ही आत्मानुभव

मणु-इंदिहि वि छोडियइ, बुहु पुच्छियइ ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ, सहज उपज्जइ सोइ॥५४॥

मन इन्द्रिय से दूर हट, क्यों पूछत बहु बात।
राग प्रसार निवार कर, सहज स्वरूप उत्पाद॥

अन्वयार्थ – **(बहु मणु इंदिहि वि छोडियइ)** यदि बुद्धिमान मन व इन्द्रियों से छुटकारा पा जावे **(कोइ ण पुच्छियइ)** तब किसी से कुछ पूछने की जरूरत नहीं है **(रायहँ पसरू णिवारियइ)** जब राग का फैलाना दूर कर दिया जाता है **(सहज सोइ उपज्जइ)** तब यह आत्मज्ञान सहज ही पैदा हो जाता है।

☆ ★ ☆

५४। **इन्द्रिय व मन के निरोध से सहज ही आत्मानुभव।**

मणु-इंदिहि वि छोडियइ, बुहु पुच्छियइ ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ, सहज उपज्जइ सोइ॥५४॥

मन, इन्द्रिय को दूर कर। आता है न ? है न इसमें ? यह संक्षिप्त में संक्षिप्त बात... भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु है, उसे मन और इन्द्रिय से दूर कर और अनुभव कर – यह करने का है। **क्या बहुत पूछे बात ?** बहुत बड़ी-बड़ी बातें पूछे और यह करे और वह करे... परन्तु यह सार तो निकालता नहीं। कहो, समझ में आया ? **क्या बहुत पूछे बात ?** ऐसा आया या नहीं अन्दर ? है ? पूरे दिन पूछना-पूछना, पूछा पूछ, पूछा पूछ (करता है) परन्तु पूछ कर करना क्या है ? है ?

मुमुक्षु – स्पष्ट होता है।

उत्तर – क्या स्पष्ट होता है। करने का तो यह है, यह स्पष्ट क्या हुआ ?

यहाँ पाठ है न ? '**बहु पुच्छियइ ण कोइ**' बहुत पूछताछ करता है, पूरे दिन कि इसका ऐसा है और उसका ऐसा है और इसका ऐसा है और उसका ऐसा है.... इसलिए यह सम्यग्दर्शन हो गया ? और सम्यग्ज्ञान उसके कारण निर्मल हो गया ? ऐसा नहीं। देवानुप्रिया ! '**रायहँ पसरु णिवारियइ**' देखो ! कहते हैं, तीन बात की। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसे मन और इन्द्रिय से हटाकर और राग दूर करके अन्तर में एकाकार होना, यह मोक्ष के लिए करने योग्य है। मन और इन्द्रिय से हटाकर, अन्दर जाना और राग को दूर करके वीतराग दृष्टि करना। आहा...हा... ! धमाल (के कारण) यह भी सूझे ऐसा नहीं। यह शत्रुंजय की यात्रा और हो... हो... हो... हो... जयचन्दभाई ! बड़ी धर्मशालाएँ, दस-दस हजार लोग आवें... आहा...हा... ! धर्म... धर्म... धर्म... मानो धर्म वहाँ लुटता होगा ! धर्म कहाँ है ? समझ में आया ? यह तो जरा राग की मन्दता होवे तो शुभभाव होता है। भक्ति और यात्रा में धर्म-वर्म है नहीं। आहा...हा... !

मुमुक्षु – कोई यात्रा करेगा नहीं।

उत्तर – कौन करता है ? भाव आये बिना रहेगा नहीं, आयेगा तब। अभी कहते थे

कल, हाँ! कि हम विनती करने आनेवाले हैं। ए...ई...! मैंने कहा अब 'अभी शरीर-वरीर काम नहीं करता, अब अपना मन....' नहीं, हम आयेंगे। कहे, जयन्तीभाई! और दो-चार -पाँच आकर (कहें), पालीताना आये सोलह वर्ष हो गये, एक बार तो आओ, पधारो। लो, इन्हें अभी नजदीक लगता है।

यहाँ तो कहते हैं कि इस यात्रा करने की बड़ी यात्रा यह कि यह भगवान आत्मा अनन्त शान्तरस का पिण्ड है, यह मन और इन्द्रियों से दूर करके राग हटाकर अन्दर में स्थिर होना, यह बड़ी यात्रा है। आहा...हा...! ऐ...ई...! माँगीरामजी! वह तो शुभभाव होता है, परन्तु वह कहीं धर्म है और उसके कारण अन्तर आत्मसन्मुख जाया जाता है, इस बात में कोई दम नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? भक्ति, यात्रा होती है परन्तु उसका परिणाम शुभभाव जितना है। समझ में आया? परन्तु वह शुभभाव हुआ, इसलिए आत्मसन्मुख जाएगा – ऐसा नहीं है। उनकी दोनों की दशा और दिशा में अन्तर है। आहा...हा...! एक व्यक्ति ने पूजा-भक्ति-यात्रा शुभभाव है, वह पूरा उत्थापित कर दिया (क्योंकि) जब तक स्वरूप में स्थिर नहीं हो सके, तब तक ऐसा भाव आता है परन्तु उस भाव द्वारा धर्म होता है, उस भाव के द्वारा धर्म का कारण होता है, इस बात में दम नहीं है। अरे...अरे...! कठिन बात परन्तु.... है न?

बुद्धिमान मन और इन्द्रियों से छुटकारा पाता है.... भगवान आत्मा, मन और इन्द्रियों से हट जाये, यह इसे करने का है। **तो किसी को भी पूछने की आवश्यकता नहीं रहती।** कुछ पूछने की जरूरत नहीं, यह तो आता है न? निर्जरा (अधिकार) में आता है। निर्जरा (अधिकार) २०६ (गाथा) क्या बहुत पूछने का काम है तुझे? अन्दर जा न! ए...! आहा...हा...! फिर करके तो यह करने का है, यह तो तू करता नहीं, पूरे दिन पूछताछ करता है परन्तु इसमें क्या है? आहा...हा...! भगवान चिदानन्दमूर्ति आत्मा अखण्ड प्रभु सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने आत्मा देखा, ऐसे आत्मा के अन्तर में स्थिर होना, दृष्टि करके स्थिर होना, यह मुख्य धर्म का कर्तव्य और कार्य है। अब, यह करता नहीं और पूरे दिन पूछताछ करता है कि इसका कैसे और इसका कैसे? सब इसका (ऐसा कि) अन्दर स्थिर हो यह। ले, समझ में आया? यह बाहर से कोई क्रियाकाण्ड से या पूजा-भक्ति

से (या) शत्रुंजय की लाख यात्रा करे, करोड़ करे सम्मेदशिखर की, उसमें से आत्मा प्राप्त हो ऐसा नहीं है। कहो, जगजीवनभाई! क्या होगा?

कहते हैं कि राग का फैलाव दूर कर। लो! देखो, आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होने पर आत्मा की शान्ति का विस्तार होता है। राग का विस्तार घटे और अराग का विस्तार होता है। आहा...हा...! शुभराग का भी विस्तार घटता है – यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है। नित्यानन्द आत्मा अन्दर है, उस नित्यानन्द में – आनन्द में एकाग्र होने पर आनन्द का फैलाव होता है। राग का विस्तार घटता है, यह वस्तु कर्तव्य है। आहा...हा...! समझ में आया? **तब यह आत्मज्ञान सहज ही उत्पन्न हो जाता है।**

शास्त्र के रहस्य को जाननेवाले, जो व्यवहार-निश्चयनय से अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनय से छह द्रव्यों का स्वरूप भले प्रकार.... जानकर आत्मा की ओर उपयोग लगाना चाहिए। **आत्माधीन निश्चयचारित्र के लाभ के लिए उपयोग को (उन्हें) मन और इन्द्रियों की तरफ जाने से रोकना चाहिए।** लो! **इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा मिटाना चाहिए....** इत्यादि-इत्यादि बहुत बात है। पूछताछ करने की क्या आवश्यकता है? इत्यादि इन्होंने डाला है। **वास्तव में जिसे अनुभव करना है, वह स्वयं ही है।** क्या कहते हैं? अनुभव-आत्मा का धर्म करनेवाला तो स्वयं ही है। अनुभव करनेवाला आत्मा है। आत्मा स्वयं है, उसे पर के पास से कहाँ कुछ लेना है? समझ में आया? स्वयं ही अनुभव करनेवाला और स्वयं ही अनुभव का आनन्द लेनेवाला है। उसमें पर को पूछकर कहाँ अन्दर में मिले ऐसा है? आहा...हा...! बहु पूछे बात, हाँ! साधारण बात जानने की जरूरत है – ऐसा कहते हैं। **वास्तव में जिसे अनुभव करना है, वह स्वयं ही है।**

आत्मा के आनन्द की गाढ़ श्रद्धा सर्व आत्मा अथवा परपदार्थ के आश्रित सुख के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर देती है। लो! यह आत्मा की श्रद्धा कि मैं आनन्द हूँ, इस श्रद्धा से आत्मा को पर-शरीरादि में आनन्द है, इस बुद्धि का नाश हो जाता है। आत्मा में गाढ़ श्रद्धा होने पर आत्मा आनन्द और अनाकुल शान्त और शान्ति का पर्वत स्वयं है,

ऐसे भगवान आत्मा की गाढ़ प्रतीति होने पर आत्मा के अतिरिक्त दूसरे आत्मा और दूसरे पुद्गल में सुखबुद्धि का नाश हो जाता है। कहो, समझ में आया? दूसरे पुद्गल शब्द से यह पैसा-धूल, स्त्री, पुत्र इस धूल में कहीं सुख है नहीं। समझ में आया? यह ५४ (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

पुद्गल व जगत् के व्यवहार से आत्मा को भिन्न जाने

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ, अण्णु वि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ, लहु पावहि भवपारु॥५५॥

जीव पुद्गल दोऊ भिन्न है, भिन्न सकल व्यवहार।
तज पुद्गल ग्रह जीव तो, शीघ्र लहे भवपार॥

अन्वयार्थ – (**पुग्गलु अण्णु जि**) पुद्गल मूर्तिक का स्वभाव जीव से अन्य है (**जिउ अण्णु**) जीव का स्वभाव पुद्गलादि से न्यारा है (**सहु ववहारू अण्णु जि**) तथा और सब जगत् का व्यवहार प्रपंच भी अपने आत्मा से न्यारा है (**पुग्गलु चयहि वि जिउ गहहि**) पुद्गलादि को त्यागकर यदि अपने आत्मा को निराला ग्रहण करे (**लहु भवपारू पावहि**) तो शीघ्र ही संसार से पार हो जावे।

☆ ★ ☆

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ, अण्णु वि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ, लहु पावहि भवपारु॥५५॥

५५, संसार से पार होने का उपाय – एक आत्मा का ज्ञान है। '**पुग्गल अण्णु**' यह शरीर, कर्म आदि अन्य है। असद्भूत व्यवहार का विषय जो कर्म, पुद्गल वे सब अन्य हैं। '**अण्णु जि सहु ववहारु**' बहुत संक्षिप्त डाला है। अशुद्ध निश्चय से उत्पन्न होते, ऐसे पुण्य-पाप, राग-द्वेष के भाव भी व्यवहार हैं। वह व्यवहार भी आत्मा के स्वभाव से अन्य है। समझ में आया? इन्होंने आगे थोड़ा डाला है, हाँ!

मेरा शुद्ध स्वभाव इन पाँच तत्त्व और सात पदार्थों के व्यवहार से निराला है। भगवान आत्मा का जो व्यवहार, वह पाँच तत्त्व और सात पदार्थों के व्यवहार से अत्यन्त निराला है। पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष से निराला तत्त्व अखण्ड अभेद है। समझ में आया? व्यवहार, समस्त व्यवहार से अर्थात्? कर्म, शरीर से भिन्न; पुण्य-पाप से भिन्न और आत्मा की इस विकारी पर्याय या अविकारी पर्याय से भी भिन्न है। अविकारी पर्याय सद्भूत व्यवहार का विषय है। समझ में आया? यह सब व्यवहार है। गुण-गुणी भेद भी व्यवहार है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य और उसके आश्रित रहनेवाले गुण – ऐसा विकल्प भी व्यवहार है। उस व्यवहार को छोड़ – ऐसा कहते हैं। देखो, समझ में आया?

'अण्णु जि सहु ववहारु' 'सहु ववहारु' सर्व व्यवहार। लो! व्यवहाररत्नत्रय तो व्यवहार अन्य है। गुण-गुणी के भेद से भगवान आत्मा अन्दर में विचारता है कि ओ...हो...! इस वस्तु में ऐसे अनन्त गुण रहे हुए हैं, अनन्त आनन्द है – ऐसा जो भेदवाला विकल्प है, वह व्यवहार है। वह व्यवहार भी भगवान आत्मा से अन्य है। समझ में आया? आहा...हा...! समझ में आया? निराला.... नारकी और नारकी आदि के (भेद से) तो भिन्न है। **संकल्प-विकल्परूप क्रियाएँ, यह सब मेरे शुद्ध आत्मिक परिणमन से भिन्न है।** संकल्प-विकल्प की क्रियाएँ.... सभी आत्मा के संकल्प से-वस्तु से भिन्न है।

जगत् का समस्त व्यवहार मन-वचन-काया के योग से अथवा शुभ या अशुभ के उपयोग से चलता है। मेरे शुद्ध उपयोग में और निश्चय आत्मिक प्रदेशों में उनका कोई संयोग नहीं है.... दो बात – मेरे शुद्धभाव में और शुद्ध आत्मप्रदेश में... समझ में आया? प्रदेश डाले हैं न? व्यंजनपर्याय। असंख्य प्रदेश शुद्ध हैं। उन शुद्ध प्रदेशों में यह सब मन-वचन-काया का व्यापार या शुभाशुभभाव, वह मेरे शुद्धभाव में नहीं हैं; वे मेरे शुद्ध असंख्य प्रदेश के क्षेत्र में नहीं हैं। आहा...हा...! यह तो वे कहते हैं – मन-वचन-काय की क्रिया, वह धर्म है। उससे निर्जरा होती है – ऐसे लेख आते हैं, लो! ओ...हो...हो...! धर्म के विद्रोही धर्म के नायक हो गये हैं। हैं? विद्रोही कहा, धर्म के विद्रोही धर्म के नायक हैं – ऐसा दावा करते हैं। हैं? आहा...हा...!

जहाँ निर्विकल्प पदार्थ ही प्रभु आत्मा निर्विकल्प आनन्दकन्द है, सच्चिदानन्द का

गोला ही सम्पूर्ण भिन्न है। मन, वाणी, देह से पूरी चीज ही परमात्मस्वरूप भिन्न है – ऐसे भिन्न को भिन्न देखे, देखकर अनुभव करे नहीं और बाहर की क्रिया से धर्म माने, मन-वचन से धर्म माने, पुण्यपरिणाम से धर्म माने, तीर्थयात्रा पूजा से धर्म मानता है, वे तो भगवान के दर्शन से समकित होता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इस भगवान के दर्शन से समकित होता है। भगवान के दर्शन से होता है, शुभभाव होता है। भाव है, वह शुभ है, वह कहीं धर्म नहीं है, संवर-निर्जरा नहीं है। कितने ही बड़े-बड़े (विद्वान्) कहते हैं, आस्रव चाल घटती है, संवर बढ़ता है... परन्तु भाई! परद्रव्य है, वहाँ लक्ष्य जाये अर्थात् शुभभाव (की) वृत्ति उत्पन्न हो (उस) शुभ की दिशा पर के प्रति है और स्वभाव की-शुद्ध की दशा अन्तर के प्रति है। कहो, समझ में आया इसमें?

कहते हैं, मेरे शुद्ध उपयोग में कुछ है नहीं। है न? फिर थोड़ा सा डाला है। वह अशुद्ध व्यवहार... सर्व व्यवहार कहा है न? **अशुद्ध निश्चय से कहे जानेवाले, रागादि भावों से, अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहे जानेवाले कार्माण आदि शरीरों के सम्बन्ध से; उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहे जानेवाले स्त्री, पुत्रादि, चेतन और धन आदि अचेतन पदार्थों से मैं भिन्न हूँ।** यह तो स्पष्टीकरण ठीक किया है। सब व्यवहार का अर्थ किया है। **सद्भूत व्यवहार से कहे जानेवाले गुण-गुणी के भेदों से भी मैं दूर हूँ।** लो!

मैं समस्त व्यवहार की रचना से निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूँ। आहा...हा...! स्वयं परमात्मा है, उसे किसी राग और पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है – ऐसे आत्मा का अन्दर में ध्यान करना और श्रद्धा-ज्ञान करना ही मोक्ष का मार्ग है। बहुत से कहते हैं, ऐसा कहे और फिर वापस (मन्दिर बनाते हैं)। इन मलूकचन्दभाई को कहते हैं, मन्दिर अच्छा बनाना। रामजीभाई! इन्हें बहुत कहते हैं। अच्छा करना, अमुक करना, अमुक करना। ए...ई...! यह कहें परन्तु पैसा कहाँ से लाना? तुम्हें पैसा लाने को कहा जाये? इतने अधिक पैसे लाना कहाँ से? कहो, समझ में आया?

वह तो शुभभाव होता है, तब यह सब वस्तुएँ होती हैं। बाकी होना हो, तब होता है। शुभभाव होता है – भक्ति का, पूजा का, मन्दिर होवे तो ठीक, देव-दर्शन होवे – ऐसा भाव

होता है परन्तु इस भाव की मर्यादा को ऐसा टाँके कि यह भाव आया, इसलिए अब इसे आत्मा का अनुभव और धर्म होगा – ऐसा नहीं है। इसी प्रकार इस बात को अत्यन्त उड़ा ही दे; अशुभभाव से बचने के लिए – ऐसा भक्ति का, पूजा का, दया का, दान का, यात्रा का भाव होता है, उसे उड़ा दे तो वह तत्त्व को नहीं समझता। समझ में आया?

मैं समस्त व्यवहार की रचना से निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूँ। लो! **ज्ञायक एक प्रकाशवान परम निराकुल, परम वीतरागी, अखण्ड द्रव्य हूँ।** ठीक कहा है। अर्थ ठीक करते हैं। समझ में आया? **इस प्रकार मनन करके जो अपने आत्मारूपी रत्न का ग्रहण करके....** भगवान आत्मा अपने स्वरूप का रत्न – चैतन्यरत्न – उसके अन्तर में एकाग्र होकर चैतन्य को ग्रहण करता है। **उसके ही स्वामीपने में सन्तुष्ट हो जाता है।** धर्मी तो अपने सहजात्मस्वरूप का स्वामी (होता है)। यह आत्मा शरीर, वाणी, मन का तो मालिक नहीं परन्तु दया, दान के विकल्प का मालिक भी आत्मा नहीं है। आहा...हा...! सहजात्मशुद्ध चैतन्यपिण्ड प्रभु, उसका यह आत्मा सहजानन्द का स्वामी है। समझ में आया? और अपने स्वरूप के-सहजानन्द के स्वामी में ही धर्मी को सन्तोष दिखता है।

यह (अज्ञानी पर का) स्वामी हुआ – मकान का, मालिक का, अमुक का, इतनी स्त्रियाँ, इतने लड़के, इतनी इज्जत, इतनी कीर्ति, इतने मकान, यह इतने-इतने शुभभाव किये, उनका स्वामी होता है तो कहते हैं कि वह स्वयं असन्तोष में घिर गया है। आहा...हा...! उसे सन्तोष नहीं होता। सन्तोष तो धर्मात्मा को अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा -ज्ञान में सन्तोष है। अपना सहज स्वाभाविक आत्मा की पूँजी, आत्मा की पूँजी अनन्त गुणरूप का स्वामी होने से सन्तोष मानता है। शिष्यों का स्वामी हो – हमारे इतने शिष्य, इतनी हमारी चेलियाँ... समझ में आया? हमने इतनी पुस्तकें बनायीं, इसके – अमुक के हम स्वामी... कितनी पाठशालाओं के हम स्वामी, उन सबके अधिपति हैं, प्रत्येक में होता है न....? क्या कहलाते हैं उसके? प्रमुख, अध्यक्ष... अमुक के (ट्रस्टी हैं,) अमुक के अध्यक्ष हैं, यह सब पर का स्वामीपना मानना यह तो मूढ़ता है। वहाँ कहाँ पर में तेरा स्वामीपना था? समझ में आया? कितनों को ऐसा होता है।

किसके लड़के ? उसका आवेग हो जाता है। यह लक्ष्मी इतनी कहलाती है, दो करोड़ -पाँच करोड़ यह किसकी ? मेरी।

मुमुक्षु – तो लक्ष्मी इसकी होगी या नहीं ?

उत्तर – धूल में भी इसकी नहीं है। इसकी होवे तो इसके आत्मा में घुस जाना चाहिए। समझ में आया ? हैं ?

मुमुक्षु – तिजोरी में पड़े होते हैं।

उत्तर – तिजोरी में (होवे) परन्तु... तिजोरी, तिजोरी की स्वामी है, परमाणु परमाणु का स्वामी है। यह कहाँ से लाया उसमें ? देखो!

उसके ही स्वामीपने में सन्तुष्ट हो जाता है.... आहा...हा...! भगवान आत्मा अपना अभेद, अखण्ड, आनन्दस्वरूप का वेदन-अनुभव करने पर उसमें सन्तोषपना समाहित हो जाता है। उसके स्वामीपने में ही सन्तोष है। राग और पर के स्वामीपने में तो दु:खदायक अधिक भ्रम है। समझ में आया ? (फिर) समयसार का दृष्टान्त दिया है।

☆ ★ ☆

आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है

जे णवि मण्णहिँ जीव फुडु, जे णवि जीउ मुणंति।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया, णउ संसार मुचंति॥५६॥

स्पष्ट न माने जीव को, अरु नहिं जानत जीव।
छूटे नहिं संसार से, भावे जिन जी अतीव॥

अन्वयार्थ – **(जे फुडु जीव णवि मण्णहिं)** जो स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानते हैं **(जे जीउ णवि मणंति)** व जो अपने आत्मा का अनुभव नहीं करते हैं **(ते संसार णउ मुंचुति)** वे संसार से मुक्त नहीं होते **(जिण णाहहं उत्तिया)** ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

☆ ★ ☆

५६। **आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है।**

जे णवि मण्णहिँ जीव फुडु, जे णवि जीउ मुणंति।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया, णउ संसार मुचंति॥५६॥

जो भगवान आत्मा.... **जो स्पष्टरूप से आत्मा को नहीं जानता....** स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष समझ में आया। '**णवि-मण्णहिं जीव फुडु**' आत्मा विकल्परहित, मन के संगरहित सीधे आत्मा अपने को ज्ञात हो... ऐसे आत्मा को प्रत्यक्षरूप से कोई नहीं जानता। समझ में आया? **और जो अपने आत्मा को अनुभव नहीं करता....** जानना और अनुभव करना, दोनों साथ लिये हैं। प्रत्यक्ष नहीं जानता.... दो शब्द अलग किये हैं न? एक तो प्रत्यक्ष नहीं जानता; उसमें वजन यह दिया कि राग और मन रहित आत्मा को सीधे जानने का नाम आत्मा का जानना कहलाता है। समझ में आया? ऐसे दो बोल (कहे हैं)।

'**जे णवि-मण्णहिं जीव फुडु जे णवि जीउ मुणंति**' भगवान आत्मा...! यहाँ तो अकेले आत्मा के ही गीत हैं। योगसार! भगवान पूर्णानन्द प्रभु के अन्दर में एकाकार हो, वही योगसार है; बाकी कुछ सार-फार है नहीं। क्या कहते हैं? जो कोई जीव अपने आत्मा को **स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानता....** एक बात। परोक्ष से जानना कि यह आत्मा है, यह आत्मा (है) वह आत्मा नहीं। प्रत्येक गाथा में भाव बदलते हैं, हाँ! बात तो ऐसी की ऐसी लगती है परन्तु बदलते हैं। भगवान आत्मा '**स्वानुभूत्या चकासते**'। एक ज्ञान की लहर से जागता भगवान स्वयं अपने को प्रत्यक्ष न जाने, उसे कहते हैं कि, उसे हम ज्ञान नहीं कहते। आहा...हा...! ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु – एक विकल्प से जाने और....

उत्तर – विकल्प से जाने, वह ज्ञान ही नहीं, वह ज्ञान ही नहीं है। प्रत्यक्ष जाने, उसे ज्ञान कहते हैं – यहाँ ऐसा सिद्ध करना है। विकल्प से जानना, वह जानना नहीं है। जमूभाई! सब बात ऐसी है।

मुमुक्षु – व्यवहार से जाना कहलाता है?

उत्तर – नहीं, एक ही प्रकार। व्यवहार से जाना, वह जानना है ही नहीं। ज्ञान का सीधा ज्ञान हुए बिना जानना, वह ज्ञान है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु – सीधा अर्थात् ऐसा....

उत्तर – सीधा अर्थात् राग बिना, अन्दर प्रत्यक्ष ज्ञान। शास्त्र का ज्ञान और उसका उत्पन्न हुआ विकल्प, उससे आत्मा (जाना) – ऐसा नहीं है। '**फुडु**' शब्द इसलिए प्रयोग किया है।

भाई! यह तो मूलमार्ग है। भगवान आत्मा को अन्दर ज्ञान से ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होना उसे ज्ञान कहते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब प्रभु का इसे ज्ञान से ज्ञान होना, सीधा स्वसंवेदन होना, उसे आत्मा का ज्ञान कहा जाता है।

मुमुक्षु – सीधा कहा अर्थात् टेढ़ा नहीं।

उत्तर – टेढ़ा (अर्थात्) इस राग से किया और विकल्प से किया, शास्त्र से किया, वह कहीं ज्ञान नहीं है, वह टेढ़ा कहलाता है। आहा...हा...! यहाँ तो निराला प्रभु, अत्यन्त निराला है न? आहा...हा...! वस्तु तो वस्तु परमात्मस्वरूप ही स्वयं है। कल तो आया नहीं था? परमात्मस्वरूप में स्थित आत्मा है। स्थित है। परमात्मस्वरूप में स्थित है, वह राग में पुण्य में अल्पज्ञान में भी नहीं। आहा...हा...! ओ...हो...! सन्तों की कथनी (ने) मार्ग को सरल करके ऐसा जगत को समझाया है! भाई! तू तो तेरी हथेली में-हाथ में ऐसा है न! पूर्ण सत्ता। कहा नहीं था? '**सततम् सुलभं**' आया था या नहीं? भगवान! तू तुझे सुलभ न हो तो तुझे कौन सी चीज सुलभ होगी? आहा...हा...!

भाई! ज्ञानानन्द की ज्योत है न! अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रगट... प्रगट... प्रगट... प्रगट है न! अस्तिरूप से प्रगट है, उसे नास्तिरूप कैसे कहना? आहा...हा...! इस सब व्यवहार से मुक्त भगवान आत्मा है। आहा...हा...! देखो, तो सही! यह आ गया है। सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है – ऐसा इसमें आ गया है। समझ में आया? हो भले... जैसे परद्रव्य है, ऐसे हो भले – दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा (का) भाव-शुभभाव होता है परन्तु सम्यक् आत्मा ज्ञायकमूर्ति का जिसने सीधा ज्ञान करके जाना, वह धर्मी तो व्यवहार से

मुक्त है। आहा...हा... ! माँगीरामजी ! व्यवहार से लाभ तो नहीं परन्तु व्यवहार से मुक्त है। व्यवहार भेद, विकल्प, राग है।

भगवान आत्मा अभेद चैतन्य के अनुभव में, उसकी अभेददृष्टि में धर्मी व्यवहार से मुक्त है। समझ में आया ? व्यवहार करना पड़े और होना चाहिए – ऐसा नहीं, यह कहते हैं। हो, परन्तु करना पड़े और होवे तो ठीक – ऐसा सम्यग्दृष्टि के आत्मा के ज्ञान में नहीं है। उसके बाद यह बात लेंगे। अन्य व्यवहार कहा न ? समझ में आया ? अन्य सर्व व्यवहार... कहाँ तक ले गये, देखो न ! वस्तु जैसे सर्व से अन्य – ऐसी अभेददृष्टि जहाँ हुई, उसमें वह सर्व व्यवहार से भिन्न है। समझ में आया ? यह व्यवहार का पूंछड़ा निश्चय को लागू नहीं पड़ता – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! यह प्रभु अकेला ज्ञान का सूर्य प्रभु भिन्न है। कहते हैं कि उसे जानना, तब कहते हैं कि जिसका (स्वरूप) अपने को प्रत्यक्ष हो। जिसने पर की सहायता, मन, वाणी, राग या पर का श्रवण करना, उससे आत्मा ज्ञात होता है ? (कहते हैं) नहीं। गुरु की वाणी में बोध रहा है आत्मा ? बोध तो बोध में रहा है; भगवान, आत्मा में रहा है। ए...ई... !

मुमुक्षु – तब तो जवाबदारी रह जाती है।

उत्तर – ऐसा इन्होंने कहीं डाला है। ऐसा वह कहीं आया था। नहीं ? ५३ तो आज चला, उसके पहले कहीं था, हाँ ! इन्होंने डाला है। गुरु के बोध में ज्ञान नहीं – ऐसा कहते हैं, यह तो आ गया है, यह कहीं आया था। नहीं आया गुरु ? निषेधकर्ता, ऐसा स्वयं ने कहीं लिखा था। ५६ चलती है न ? कहीं है अवश्य, इन्होंने एक जगह डाला था। (रेत में) तेल नहीं परन्तु तिल में है। इसी प्रकार शास्त्र में आत्मा नहीं परन्तु तन में है। जैसे मृगमरीचिका में जल नहीं परन्तु सरोवर में है; उसी प्रकार गुरुवचन में बोध नहीं परन्तु हृदय सरोवर में है – यह ५२ गाथा में है। ५२ गाथा है सही न ? '**सत्थ पढं जड़ अप्पा**' यह भाई, नहीं ? 'लालन'... यह पहले ५३ बोल पढ़ा न ? यहाँ ५२ है, उसमें जरा अन्तर है। '**सत्थ पढं तह ते वि जड़ अप्पा जेण मुणंति।**' ऐसा लिखा है, देखो ! गुरु वचन में बोध नहीं परन्तु हृदय सरोवर में है। बोध यहाँ है, कहते हैं। मैंने कहा, कहीं पढ़ा था। कहो, समझ में आया ? यह चन्द्रमा जगे, वहाँ आत्मसमुद्र अन्दर से उछलता है – ऐसा कहते हैं।

कहते हैं कि जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष जाना, उसने आत्मा को जाना कहलाता है। समझ में आया? **'जे णवि-मण्णहिं जीव फुडु'** वह संसार से नहीं छूटता – ऐसा जिननाथ कहते हैं। क्या कहते हैं? **'जिण णाहहं उत्तिया'** है न? जिननाथ... **ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।** भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव ऐसा फरमाते हैं – जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जाना, वह संसार से नहीं छूटेगा। समझ में आया? आहा...हा...! इस प्रकार ज्ञान से ज्ञान को जानकर वेदन करे.... राग नहीं, मन नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, गुरु नहीं, कोई नहीं। उसने शास्त्र के धारे हुए धारणा किये भावना के बोल, वे भी नहीं। समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा **'फुडु'** अर्थात् स्पष्ट स्वयं, स्वयं से नहीं जाने, स्वयं अपने से प्रत्यक्ष नहीं जाने.... **'जिण-णाहहँ उत्तिया णउ संसार मुचंति'** जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि वह संसार मिथ्यात्वादि से छूटेगा नहीं। संसार शब्द से मिथ्यात्व, हाँ! उस मिथ्यात्व से नहीं छूटेगा। आहा...हा...! ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। है या नहीं? ऐ... शशीभाई! आहा...हा...!

भगवान आत्मा....! देखो तो सही, योगसार! योगसार अर्थात् प्रभु आत्मा निर्विकल्पस्वरूप से, निर्विकल्प वेदन से अपने को न जाने तो कहते हैं कि, इस विकल्प से जाना और मन से जाना, शास्त्र से जाना वह जीव संसार से मुक्त नहीं होगा। आहा...हा...! क्या बात...! बात तो ऐसी ही होगी न? समझ में आया? ऐसा **'जिण उत्तिया'** अनन्त जिनेन्द्रों की वाणी में ऐसा आया है। इन्हें लिखना पड़ा – **'जिण उत्तिया'** आचार्य को लिखना पड़ा, भाई! ऐसा तो वीतरागदेव कहते हैं, हाँ! परमेश्वर केवलज्ञानी तीन लोक के नाथ की वाणी में इच्छा बिना ध्वनि आयी, उस ध्वनि में ऐसा आया था कि जो आत्मा को प्रत्यक्ष.... चौथे गुणस्थान से, हाँ! आहा...हा...! रागरहित भगवान आत्मा को प्रत्यक्ष न जाने, वह संसार-मिथ्यात्वादि से नहीं छूटेगा। समझ में आया? शशीभाई! आहा...हा...! संसार शब्द से मिथ्यात्व, वह संसार है, हाँ! मिथ्यात्व गया, संसार नहीं रहता। आहा...हा...!

जो स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानता.... एक बात। **और जो अपने आत्मा का अनुभव नहीं करता....** फिर स्थिरता की विशेष बात ली है। प्रत्यक्ष जानकर फिर बारम्बार आत्मा में अनुभव करना; प्रत्यक्ष जानकर फिर स्थिर होना। भगवान आत्मा

में अतीन्द्रिय आनन्द का बारम्बार स्पर्श होना, अतीन्द्रिय आनन्द का स्पर्श होना; प्रत्यक्ष ज्ञान और फिर अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष वेदन, वह जिसे नहीं, वीतराग कहते हैं कि वह संसार से छूटता नहीं है। आहा...हा... ! कठिन बात भाई !

वे तो ऐसा कहते हैं यह निश्चय... निश्चय... एकान्त... एकान्त (कहते हैं)। सुन न, भगवान ! यह तेरा एकान्त स्व प्राप्त करने का यह उपाय है। दूसरा उपाय नहीं है भाई ! तुझे लगता है कि यह परोक्ष ज्ञान और यह परज्ञान, बाहर का व्यवहार (इससे) आत्मा के आनन्द के अनुभव के बिना तुझे कल्याण और संवर-निर्जरा हो जाये – ऐसा है नहीं। इसका नाम एकान्त मिथ्यात्व है। समझ में आया ? स्व-संवेदन ज्ञान बिना संवर-निर्जरा नहीं है और तू ऐसा माने कि इनके बिना, शास्त्र के पठन से संवर-निर्जरा (होते हैं)। यह तेरी एकान्त मान्यता है। अनुभव के बिना निर्जरा की उग्रता नहीं है और तू कहता है कि यह उपवास कुछ करें और यह भगवान के दर्शन से निर्जरा हो (यह तेरी एकान्त) मिथ्यात्व की मान्यता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु – ऐसा मँहगा, कितना ही खर्च करे तो भी नहीं मिले।

उत्तर – अन्य तो पच्चीस गुना भाव खर्च करे तो भी मँहगाई में मिलता है, कहते हैं परन्तु यह मँहगाई कैसी ? ठीक, निकालते हैं न ? यह तो ऐसी सस्ताई है कि किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती – ऐसी यह सस्ताई है। आहा...हा... ! कहो ! उसमें तो पैसा चाहिए, लेने जाना पड़े, वह फिर कुछ दे, न दे, उस समय फुर्सत में हो, न हो। इसमें तो किसी की जरूरत नहीं पड़ती। आहा...हा... ! है ? आहा...हा... ! भगवान आत्मा ऐसा का ऐसा परमात्मस्वरूप विराजमान है, उसका अन्तरध्यान-एकाग्र करना वह तेरे समीप में है, कहीं बाहर से आवे ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! कठिन परन्तु लोगों को.... अपनी जाति को जानना, उसमें इसे मँहगा लगता है !

श्री जिनेन्द्र भगवान ने दिव्यध्वनि से यही उपदेश दिया है कि अपने आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान-ध्यान.... देखो ! **अर्थात् निश्चयरत्नत्रयस्वरूप स्वात्मानुभव ही ऐसा मसाला है कि जिसके प्रयोग से वीतरागता की अग्नि भड़कती होती है और वह कर्मरूप ईंधन को जला डालती है। आत्मज्ञान के बिना कोई कभी कर्मों से**

मुक्त नहीं हो सकता। परपदार्थ के ध्यान से कहीं मुक्त होते हैं ? आहा...हा... ! **वास्तव में आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दृष्टि बाह्यचारित्र को, वेष को, आचरण को मोक्षमार्ग नहीं जानता....** कोई-कोई सार-सार लेते हैं, वहाँ कहाँ सब क्या लेना ? समझ में आया ? भगवान आत्मा... आहा... ! अरे... ! इसके गीत भी प्रीति से कभी सुने नहीं। हैं ? अध्यात्म की बात... आता है न ? '**तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।**' भगवान आत्मा अकेला अनाकुल सहजानन्द सीधा आत्मा अपना स्वामी... स्वयं अपने को प्रत्यक्ष करने की ताकत-शक्तिवाला.... उसमें एक गुण ऐसा है। समझ में आया ? अनादि एक प्रकाश नाम का गुण है, उसमें अनादि ऐसा गुण है कि जो प्रत्यक्ष होता है – ऐसा ही उसका गुण है। परोक्ष रहे – ऐसा उसमें गुण नहीं है। ऐसा गुण है, उससे मुक्ति होती है या उसके बिना भी मुक्ति होती है ? आहा...हा... ! क्या कहा ? ४७ शक्ति में एक बारहवीं शक्ति है, उस शक्ति का स्वभाव, आत्मा में गुण, उसका गुण प्रत्यक्ष होना है। पुण्य-पाप और राग से जानना, वह इसका गुण है नहीं। आहा...हा... ! इस भगवान आत्मा में ऐसा एक गुण पड़ा है कि जो सीधा प्रत्यक्ष होकर जाने – ऐसा इसमें गुण है। है ?

मुमुक्षु – फिर गाड़ी आगे चले।

उत्तर – फिर आगे चले। यह सब गले तक यहाँ पड़ गये थे, हाँ! उसके प्रमुख के घर कहलाते हैं न ? ...घर। दोनों गाँव के 'कामदार' प्रमुख दोनों गहरे पड़ गये। यह फिर कौन जाने, कहाँ से निकल गये ! है ? कहो, समझ में आया इसमें ? वे कहे अर...र... ! यह 'कानजीस्वामी' कहाँ जायेंगे ? हमारे 'आनन्दजी' कहते हैं, यह तो मुक्ति में जानेवाले हैं। इतने-इतने मन्दिर बनावे, इतने-इतने पाप करावे, कहाँ जाना होगा ? तुम्हारा काका कहे – 'वीरचन्दभाई' हमारे 'आनन्दजी' हैं न ? जवाब देने में होशियार है। पता नहीं तुम्हें कि मोक्ष जानेवाले हैं ! सुन न ! बाहर का मन्दिर होना और अमुक होना, उसमें आत्मा को क्या ? वह तो हुआ, उसमें कहाँ पाप था ? वह तो जरा शुभभाव होता है। वह शुभभाव होता है, उसे देखता नहीं और वह पाप हुआ, उसे देखता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु – स्थावर की हिंसा होती है, इस अपेक्षा से कहते हैं।

उत्तर – .....कहाँ था आत्मा में ? हिंसा कौन कर सकता है ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं **सम्यग्दृष्टि बाह्य चारित्र को, द्वेष को, आचरण को, मोक्षमार्ग नहीं जानता, वही निश्चय आत्मा के अनुभव को मोक्षमार्ग जानता है।** कहो, समझ में आया? **निज-आत्मा में ही रहना, वह ज्ञानी का घर है।** नीचे (लिखा) है। आत्मा का घर, निज-आत्मा में रहना, वह आत्मा का घर है। राग में रहना, वह आत्मा का घर नहीं है, बाहर का घर तो कहाँ आया? आहा...हा...! **आत्मा की शिला वही ज्ञानी का आसन है।** बाहर की शिला नहीं; उसका आसन अन्दर में है। समझ में आया? **जिन आत्मिक तत्त्व ही ज्ञानी का वस्त्र है....** अपना ज्ञान वही अपना वस्त्र है। कारण कि ढँककर ऐसा का ऐसा पड़ा है। **निज आत्मिकरस ही ज्ञानी का खान-पान है।** आहार-पानी नहीं। यह प्रत्यक्ष वहाँ कहा अवश्य न? आहा...हा...! **निज आत्मिक शैय्या ही ज्ञानी की शैय्या है।** आत्मिक शैय्या ही ज्ञानी की शैय्या है। यह बाहर का सोने का था कब? आत्मा सोता कब है? आहा...हा...! समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा को जो प्रत्यक्ष जानकर अनुभव नहीं करता, वह संसार से मुक्त नहीं होता। गुलाँट खाकर बात करे तो आत्मा को प्रत्यक्ष जानकर जो वेदन करता है, वह मुक्त होता है; इसके अतिरिक्त दूसरी कोई मुक्ति की क्रिया है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

सर्वज्ञ के प्रतिनिधि वीतरागी सन्त

सन्त तो सर्वज्ञ के प्रतिनिधि हैं, वे जगत को सर्वज्ञ का सन्देश सुनाते हैं। अरे जीवों! प्रतीति तो करो कि तुम्हारे में ऐसा सर्वज्ञपद भरा है...। तुम जगत के पदार्थरहित ही स्वयं अपने स्वभाव से परिपूर्ण हो, मुझे अमुक वस्तु के बिना नहीं चलता - ऐसा तुमने पराधीनदृष्टि से माना है और इसी कारण पराश्रय से संसार में परिभ्रमण कर रहे हो। वस्तुतः तो तुम्हारा आत्मा पर के बिना ही अर्थात् पर के अभाव से ही, पर की नास्ति से ही स्वयं अपने से टिका हुआ है। प्रत्येक तत्त्व अपनी अस्ति से और पर की नास्ति से ही टिका हुआ है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी